।। दंसण मूलो धम्मो।।

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

सम्पादक : रामजी माणेकचन्द दोशी वकील

वर्ष छठवाँ
अंक दसवाँ

७०

माघ
२४७७

कल्याण

जितना काल पर के लिए व्यतीत करता है, उतना काल यदि स्व के लिए बिताये तो कल्याण हुए बिना न रहे। भाई ! अनन्तकाल में महा दुर्लभ मनुष्यभव मिला, उसमें यदि कल्याण नहीं किया तो कब करेगा?

एक अंक
चार आना

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

जैन स्वाध्यायमन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

१- हे भव्य! तू आत्मा की प्रीति कर।
२- अज्ञानी जीव बाह्य संयोग में सुख ढूँढ़ता है
३- अज्ञानी की विपरीत दृष्टि में.....
४- परमात्म-प्रकाश-प्रवचन

अरे, मोह!

मोह द्वारा जीव पुण्य-पापरूप भारी बोझ ढ़ोकर भवचक्र में फिरता है; अनन्तकाल परिभ्रमण करके किसी समय मनुष्य हुआ, उस समय भी सत्य के लिए निवृत्ति नहीं लेता। संसार के कार्य का सो समयपत्रक रखता है, सोने का, खाने-पीने का, बातें करने का समय निकलता है, जगत के मान-आदर के लिए सब करता है, किन्तु 'अनन्त जन्म-मरण को दूर करने का समय फिर नहीं मिलेगा, इसलिए शीघ्र आत्मकल्याण कर लूँ'– ऐसा विचार भी नहीं करता।

....अपने को भूलकर परवस्तु का मोह किया, उसमें से तृष्णारूपी रोग निकला, इससे बाह्य में मिथ्या प्रयास करके सुख शोधता है। परन्तु परपदार्थ अनन्त हैं, उन अनन्त पर के साथ राग करने से कहीं समाधान नहीं होता, इसलिए आकुलता होती है। स्वयं सुखस्वरूप हैं, उसमें समा जाने का विचार नहीं करता, इससे जीव संसार में अनादि से भ्रमण कर रहा है।

माघ
२४७७

आत्मधर्म

वर्ष छठवाँ
अंक–१०

हे भव्य! तू आत्मा की प्रीति कर!

[पूज्यश्री कानजीस्वामी संघ सहित श्री शत्रुंजय सिद्धक्षेत्र की यात्रा करने गये,
उस प्रसंग पर पालीताना में श्री समयसार गाथा २०६ पर प्रवचन]

श्री आचार्यदेव ज्ञानस्वरूपी आत्मा के अनुभव का उपदेश करते हैं :–

आमां सदा प्रीतिवंत वन, आमां सदा संतुष्ट ने।
आनाथी बन तुं तृप्त, तुजने सुख अहो उत्तम थशे।।

हे भव्य! तू इसमें (–ज्ञान में) नित्य रत अर्थात् प्रीतिवाला बन, इसमें नित्य सन्तुष्ट बन, और इसी से तृप्त हो; (ऐसा करने से) तुझे उत्तम सुख होगा।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि तू इसमें प्रीतिवन्त बन!–काहे में? ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहचानकर उसी प्रीति कर! आत्मा को भूलकर शरीर और पुण्यादि की प्रीति करके तूने अनादि से संसार में परिभ्रमण किया है; इसलिए हे भव्य! तू उसकी प्रीति छोड़कर इस आत्मा की प्रीति कर! जड़कर्म तो तुझसे भिन्न संयोगी वस्तु है, शरीरादि भी आत्मा से त्रिकाल बिल्कुल पृथक् हैं, और अवस्था में पुण्य-पाप की वृत्ति हो, वह क्षणिक विकार है, वह तेरे ज्ञानस्वरूप से भिन्न है, उन किसी की प्रीति से आत्मा की शान्ति नहीं होती; इसलिए हे आत्मा! जो ज्ञानस्वरूप है, वही आत्मा है–ऐसा जानकर तू आत्मा में ही प्रीति कर। इस जगत में अनन्त आत्मा हैं, वे प्रत्येक भिन्न स्वतन्त्र हैं; उनका कोई कर्त्ता नहीं है; प्रत्येक आत्मा नित्य है, वह किसी संयोग से उत्पन्न हुआ नहीं है, और न उसका कभी सर्वथा नाश होता है। देह तो संयोगी वस्तु है और उसका नाश हो जाता है। आत्मा, देह से भिन्न असंयोगी अविनाशी है, वह भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में भी सदैव रहेगा;–यानी वह त्रिकाल है। जो पदार्थ हो, उसका कभी सर्वथा नाश नहीं होता, और जो न हो, उसकी कभी नवीन उत्पत्ति नहीं होती।

आत्मा वस्तु त्रिकाल है, है और है। उसे किसी ने बनाया नहीं है। यदि पदार्थ का किसी

को रचयिता कहा जाये, तो वह पदार्थ नित्य नहीं रहता, किन्तु कृत्रिम हो जाता है। कृत्रिम पदार्थ नित्य नहीं हो सकता। देह से भिन्न आत्मा स्वयंसिद्ध पदार्थ है, उसे जाने बिना जीव अनन्तकाल से संसार परिभ्रमण कर रहा है। उसे किसी दूसरे ने परिभ्रमण नहीं कराया है, किन्तु–'अपने को आप भूल के हैरान हो गया'–स्वयं अपने को भूलकर हैरान हुआ है; अपना ही अपराध है। इससे आचार्य भगवान उपदेश देते हैं कि–हे भाई ! अब तू आत्मा की प्रीति कर ! यहाँ आत्मा की प्रीति करने को कहा, उसमें आ गया कि अभी तक आत्मा के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र तेरी प्रीति है। इसलिए इस जगत् में एक आत्मा ही सत् है और दूसरा सब असत् है–ऐसा नहीं है; आत्मा के अतिरिक्त अन्य जड़ पदार्थ भी हैं और आत्मा को भूलकर तूने उनमें प्रीति की है। और वह प्रीति किसी दूसरे ने तुझे नहीं करायी है, कर्म ने नहीं करायी है, परन्तु तूने ही आत्मा को भूलकर पर की प्रीति की है, उसे बदलकर आत्मा की प्रीति करने में तू स्वतन्त्र है, उसमें तुझे कर्म नहीं रोकता। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि–हे जीव ! अब तू इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहचानकर उसकी प्रीति कर।

स्वयं कौन है ? उसकी जीव ने पहचान और प्रीति नहीं की है; तथा जो देह है, वही मैं हूँ अथवा तो पुण्य-पाप ही मैं हूँ–ऐसा मानकर उसकी प्रीति में अटका है, इसी से संसार है। आत्मा तो ज्ञान-दर्शन का पिण्ड अरूपी पदार्थ है, शरीरादि परपदार्थों का उसमें त्रिकाल अत्यन्त अभाव है। कोई भी पदार्थ स्व-रूप से हो और पर-रूप से न हो, तभी उसका अस्तित्व टिक सकता है, अन्यथा नहीं टिक सकता। वस्तु जिसप्रकार स्व-रूप से है, उसी प्रकार पर-रूप से भी हो तो दो वस्तुएँ एक हो जायें–इससे वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व ही न रहे और जिसप्रकार पर-रूप से नहीं है, उसी प्रकार स्व-रूप से भी न हो तो वस्तु का अभाव ही सिद्ध हो। आत्मा वस्तु है, वह स्व-रूप से अर्थात् अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से है और पर-रूप अर्थात् पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप पर चतुष्टय से नहीं है; इसी प्रकार जो परवस्तु है, वह उसके अपने रूप से है और आत्मारूप नहीं है। इस प्रकार एक का दूसरे में बिल्कुल अभाव है।–ऐसा भगवान का स्याद्वाद है। सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित अन्तर का रहस्य बतलकाकर आचार्यदेव कहते हैं कि–हे भाई ! तू आत्मा में प्रीति कर।

'आत्मा' के नाम से बात तो अनेक करते हैं, लेकिन आत्मा किसे कहा जाये ? उसका क्या स्वरूप है ? इसे समझने में अनादि से भूल हो रही है। अज्ञानी मानते हैं कि–आत्मा पर का करता है और पुण्य से आत्मा को लाभ होता है; लेकिन पर का करे और पुण्य से लाभ हो–ऐसा आत्मा का स्वरूप नहीं है। और न पर से उसे लाभ-हानि होते हैं। पर से आत्मा को लाभ या हानि

होते हैं–देव-गुरु-शास्त्र से लाभ होता है और कर्मों से हानि होती है–ऐसा जो मानते हैं, वे पर को अपना माने बिना वैसा नहीं मान सकते। स्व-पर के एकत्व की मान्यता से पर के कारण लाभ-हानि मानता है, वह मान्यता महान मिथ्यात्व है। आत्मा आत्मारूप है और पररूप नहीं है; पर पररूप है और आत्मारूप नहीं है;–इससे आत्मा अपने अतिरिक्त किसी परपदार्थ की वर्तमान दशा नहीं कर सकता, और कोई परपदार्थ आत्मा की दशा में किंचित् लाभ या हानि नहीं कर सकता;–इस प्रकार यदि बराबर निश्चित् करे तो स्व-पर की एकत्वबुद्धि का भ्रम दूर हो जाये। जिस पररूप से आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है, उसका आत्मा कुछ नहीं कर सकता; तथापि आत्मा पर का कुछ करता है–यह बात अज्ञानियों ने भ्रम से मान ली है।

निकटस्थ शरीर की दशा भी अपनी इच्छानुसार नहीं रख सकता, तब फिर पर में तो आत्मा क्या करेगा? शरीर में रोग हो, वहाँ उसे दूर करने की इच्छा आत्मा करता है, परन्तु उस इच्छा के द्वारा आत्मा रोग को नहीं मिटा सकता। में राग करके पर की दशा को बदल लूँ–ऐसा अज्ञानी भले माने, परन्तु राग द्वारा शरीर की दशा भी नहीं बदली जा सकती। यदि शरीर की दशा आत्मा की इच्छानुसार होती हो तो निरोगता में से रोग क्यों होने दे? युवावस्था से वृद्धावस्था क्यों होने दे? इच्छा न होने पर भी वे दशाएँ होती हैं, क्योंकि वह तो जड़ की वर्तमान दशा है। जड़ पदार्थ त्रिकाली है, उस त्रिकाली पदार्थ की वर्तमान अवस्था दूसरे चैतन्य के ज्ञान के या राग के आधार से नहीं होती।

भाई! तू क्या कर सकता है और क्या मान रहा है–उसका तो विचार कर! स्वयं कौन है और क्या कार्य कर सकता है? तथा वर्तमान में स्वयं क्या कार्य कर रहा है? उसका जीव ने अन्तर में कभी विवेक नहीं किया। ज्ञानस्वरूपी आत्मा अपने बाहर कुछ भी कार्य नहीं कर सकता; जो कुछ करे, वह अपने में ही करता है। अज्ञानभाव से अपनी अवस्था में विकारी भाव करता है और ज्ञानभाव से निर्मल ज्ञानभाव करता है, परन्तु जड़ में तो वह कुछ नहीं कर सकता। यदि एक क्षणमात्र भी पर से पृथक्त्व का यथार्थ भान करे तो विकार और पर के अभाव-स्वभाववाले आत्मा का स्वसंवेदन होकर अन्तर में सिद्ध भगवान जैसे आनन्द का अंश प्रगट हो।

जो वस्तु हो, वह वास्तव में अपने स्वभाव से विकारयुक्त नहीं होती। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसकी अवस्था में जो अल्पज्ञता और राग-द्वेष-क्रोधादि विकार हैं, वह उसका स्वभाव नहीं है। विकार रहित ज्ञानस्वभाव है, परन्तु उसके आनन्द का प्रगट अनुभव नहीं होता–उसका कारण यह है कि–स्वयं जिस स्वरूप से है, उसरूप अपने को नहीं जाना है और कहीं अन्यत्र अपना अस्तित्व मान रहा है। वस्तु हो, वह अपनी वर्तमान अवस्था से रहित नहीं होती। परवस्तु की

वर्तमान अवस्था स्वतन्त्ररूप से होती है, तथापि परवस्तु का परिवर्तन मेरे कारण होता है–ऐसा अज्ञानी मानता है, इसलिए पर में एकाग्रता से वह अज्ञानभावों की उत्पत्ति करता है–यही संसार मूल है। पर से भिन्न अपने मूलस्वभाव के बिना–'मैं पर का करता हूँ'–ऐसा पर में अपनत्व और 'पर मेरा करता है'–ऐसा अपने में पर का अस्तित्व मानकर एक-दूसरे से लाभ-हानि मान रहा है, परन्तु वैसा होना कभी संभवित नहीं है; मात्र स्व-पर की एकत्वबुद्धि से जीव के भाव में मिथ्यात्व होता है, वह महान अधर्म है।

आत्मा का कार्यक्षेत्र कितना है? कहीं बाह्य में तो आत्मा का कार्यक्षेत्र है ही नहीं। रागी जीव अपनी अवस्था में इच्छा करे, उस इच्छा का कार्यक्षेत्र कितना है? वह इच्छा आत्मा के स्वभाव में तो सहायता नहीं करती, और शरीर की क्रिया में परिवर्तन करना भी इच्छा का कार्य नहीं है। शरीर में रोग न होने देना, वह इच्छा का कार्य नहीं है। प्यारा पुत्र मरता हो, उसे बचाने की इच्छा करे, परन्तु पुत्र को मरने से बचाना, वह इच्छा का कार्य नहीं है। इच्छा का कार्य मात्र आकुलता है। इसलिए हे भाई! अपने ज्ञानस्वभाव को उस इच्छा से और शरीर से भिन्न जानकर तू आत्मा में लीन हो।

आत्मा के सच्चिदानन्दस्वभाव को भूलकर पर से लाभ होता है–ऐसी पराधीन दृष्टि की है, इससे आत्मा पर की प्रीति करता है, किन्तु आत्मा की प्रीति नहीं करता। इच्छा से शरीर का रोग दूर नहीं होता, इच्छा से प्यारी स्त्री को मरने से नहीं बचा सकता, इसलिए इच्छा परपदार्थ में कुछ नहीं कर सकती। इच्छा का कार्यक्षेत्र पर में बिल्कुल नहीं है; तथापि मैं पर का करा दूँ–ऐसी मान्यता के कारण वह स्व की ओर उन्मुख नहीं होता।

स्व और पर का एक दूसरे में अत्यन्त अभाव है, दोनों पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं; तथापि मैं पर का कार्य करता हूँ और पर मेरा कार्य करता है;–मानो पर में अपना अस्तित्व हो और अपने में पर का अस्तित्व हो–ऐसा अज्ञानी मानता है; इससे भिन्न चैतन्य ज्ञाता को भूलकर पर की और अपनी एकत्वबुद्धि के कारण जीव दुःखी है। जीव पर की रुचि में अटका है और स्व की रुचि नहीं करता, इसी से संसार है।

आत्मा पर से त्रिकाल भिन्न है, और उसकी अवस्था में जो दया, पूजादि शुभ या हिंसादि अशुभ वृत्तियाँ होती हैं, वह भी विकार है, वृत्ति का उत्थान है, आत्मा के स्वभाव में उनका अभाव है। निर्विकारी ज्ञानस्वभाव को भूलकर उस क्षणिक विकार जितना अपने को मानकर अज्ञानी उसकी रुचि करता है; अनन्तकाल में एक क्षण भी निर्विकार ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहचानकर उसकी रुचि नहीं की है। जैसे–पहाड़ पर बिजली गिरे और उसके टुकड़े-टुकड़े हो जायें तो फिर

वह नहीं जुड़ सकता; उसी प्रकार यदि एक बार भी आत्मा का भान प्रगट करके अज्ञान को दूर कर दे तो उस जीव की मुक्ति हो जाये और फिर से उसे अवतार न रहे।

मैं आत्मा देहादि की क्रिया से भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ; और वर्तमान में मेरी अवस्था में जो शुभाशुभ वृत्तियाँ होती हैं, वे दोनों विकार हैं। दया-दान–सत्श्रवण आदि शुभ-वृत्तियाँ पहले नहीं थीं और नवीन हुई; पहले व्यापार-धन्धा आदि की अशुभ वृत्तियाँ थीं, वे बदलकर शुभ वृत्तियाँ हुई, और फिर वे शुभ-वृत्तियाँ बदलकर अशुभ हो जायेंगी। इस प्रकार वे शुभ और अशुभ वृत्तियाँ कृत्रिम नवीन-नवीन होती रहती हैं, वे कोई आत्मा के साथ नित्य स्थायी नहीं रहतीं; इसलिए वह आत्मा के स्थायी स्वरूप की वस्तु नहीं है, परन्तु आत्मा के स्वरूप से भिन्न है। शुभ-अशुभ विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा कैसा है–उसकी अनन्तकाल में एक क्षणमात्र भी रुचि नहीं की।

पर से तो आत्मा पृथक है, और पर की ओर के लक्ष्य से राग-द्वेष की वृत्तियाँ होती हैं, उनसे भी आत्मा का स्वभाव भिन्न है, उस भिन्न आत्मा को जानने की प्रीति अन्तर में कभी नहीं की है; बाह्य का करने के अभिमान में ही अनादि से परिभ्रमण कर रहा है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानस्वभावी आत्मा को पहचानकर उसकी प्रतीति करना ही उत्तम सुख का उपाय है। 'मैं इसे बचा लूँ'–ऐसे रागभाव से प्यारे कुटुम्बीजनों को नहीं बचाया जा सकता, और 'मैं इसे मार डालूँ'–ऐसा द्वेषभाव करने से शत्रुओं को नहीं मारा जा सकता। वह राग-द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है, और उसके कारण पर में कुछ नहीं होता। आत्मा के ज्ञानसहित पर में जैसा हो, वैसा जाने –ऐसा आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, परन्तु उसमें कुछ परिवर्तन कर सके–ऐसी शक्ति आत्मा में नहीं है। कोई मरे या बचे, वस्तु आये या जाये–वह सब उन-उन वस्तुओं में उनका चालू वर्तमान काल है। वस्तु का वर्तमान उस त्रिकाली वस्तु के कारण ही होता है; तथापि मेरे कारण उसका वर्तमान होता है–ऐसा अज्ञानी मानता है, वह भ्रान्ति है। कोई भी वस्तु वर्तमान के बिना नहीं होती;– वर्तमान कहो या कार्य कहो, अथवा अवस्था कहो। प्रत्येक वस्तु का वर्तमान कार्य स्वतन्त्ररूप से होता ही रहता है। मैं ज्ञाता हूँ और वह मेरा ज्ञेय है, ज्ञाता का कार्य पर में नहीं है। –यह बात एक समय भी यथार्थरूप से नहीं मानी है।

जगत् की समस्त वस्तुएँ अपनी शक्ति से ही स्वयं बदल रही हैं। जिस प्रकार कोई ईश्वर उनका कर्ता नहीं है, उसी प्रकार कोई अन्य प्राणी भी उनका कर्ता नहीं है, वह द्रव्य स्वतन्त्र है और उसकी तीनों काल की वर्तमान अवस्थाएँ भी स्वतन्त्र हैं। पर हो तो आत्मा में कुछ हो, और आत्मा हो तो शरीरादि पर में कुछ हो–यह मान्यता मिथ्या है। आत्मा ऐसा पुरुषार्थहीन नहीं है कि उसे पर

की आवश्यक्ता हो। उसी प्रकार जड़ पदार्थ भी पराधीन नहीं हैं कि अपनी अवस्था बदलने के लिए उन्हें दूसरे की आवश्यक्ता हो।–ऐसा स्वातन्त्र्य समझे बिना अन्य कोई शान्ति का उपाय नहीं है।

जिसे अपना आत्मकल्याण करना हो, उससे श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू आत्मा में सदैव प्रीतिवन्त बन! आत्मा, शरीरादि से भिन्न और विकाररहित है–ऐसा जानकर उसकी प्रीति कर! देह से भिन्न आत्मा को जाने बिना देह की प्रीति दूर नहीं होती और आत्मा की प्रीति नहीं होती। देह और आत्मा को भिन्न जानकर अपनी रुचि की दिशा बदल दे। देह की रुचि छोड़कर ज्ञानस्वभावी आत्मा की रुचि कर। अपनी रुचि की दिशा बदलने से तेरी दशा पलट जायेगी। ज्ञानस्वभाव से तू परिपूर्ण है, तुझे पर की सहायता की आवश्यक्ता नहीं है, और न पर को तेरी सहायता की आवश्यक्ता है।

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'–प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है, इसलिए वस्तु त्रिकाल स्थायी रहकर, उसमें पुरानी अवस्था का व्यय, और नवीन अवस्था का उत्पाद होता है। वस्तु अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्ययरूप बदलती रहती है। वस्तु का परिवर्तन उसके अपने से होता है या पर से? वस्तु का परिवर्तन यदि पर के कारण कहा जाये तो वह स्वतन्त्र सिद्ध नहीं होती। यह बात समझे बिना जीव पर से लाभ-हानि मानता है, वह जो कुछ भाव करता है, वे सब अधर्मभाव हैं। जब तक पर से भिन्न चैतन्य की प्रीति न करे, तब तक धर्मभाव प्रगट नहीं होता।

प्राक् अभाव, प्रध्वंस अभाव, अन्योन्य अभाव और अत्यन्त अभाव–यह चार प्रकार के अभाव हैं, उनमें भारी रहस्य है। एक परमाणु की अवस्था का दूसरे परमाणु की अवस्था में अन्योन्य अभाव है, तो वह एक दूसरे को क्या करेंगे? आत्मा तो पुस्तक को ऊँचा नहीं उठता, लेकिन हाथ भी पुस्तक को ऊँचा नहीं करता। हाथ और पुस्तक का एक दूसरे में अन्योन्य अभाव है, तो वे एक दूसरे को क्या करेंगे? एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्त अभाव है। एक आत्मा जगत के अन्य सब आत्माओं और जड़ वस्तुओं के अभाव से ही टिका हुआ है। उसी प्रकार जगत का प्रत्येक रजकण भी दूसरे अनन्त पदार्थों के अभाव से ही टिका हुआ है। अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वचतुष्टय से प्रत्येक पदार्थ सत् है, और पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का उसमें अभाव है। यदि पर का उसमें अभाव न हो तो वस्तु अपने स्वरूप से टिक नहीं सकती। प्रत्येक पदार्थ पर के अभाव से और अपने स्वभाव से टिक नहीं रहा है, और प्रति समय उसकी अवस्था–उसका वर्तमान कार्य–उस पदार्थ के अपने आधीन होता रहता है।

यहाँ गाथा निर्जरा अधिकार की है। निर्जरा के दो प्रकार हैं; आत्मा की शुद्धता की वृद्धि हो और अशुद्धता दूर हो–वह भाव निर्जरा है, और अशुद्धता दूर होने पर उसके निमित्तरूप कर्म खिर

जाते हैं, वह द्रव्य-निर्जरा है। आत्मा की अशुद्धता दूर होने से जड़ कर्म स्वयं दूर हो जाते हैं, आत्मा उन्हें दूर नहीं करता। आत्मा ने कर्मों को दूर किया–ऐसा कहना, वह मात्र निमित्त का कथन है। निर्जरा का अर्थ है आत्मा की शुद्धि; वह कब प्रगट होती है? उसकी बात इस गाथा में की है कि–ज्ञानस्वभाव ही आत्मा है–ऐसा जानकर उसकी प्रीति कर, उसमें लीन हो,–ऐसा करने से तुझे उत्तम सुख प्राप्त होगा। उत्तम सुख कहो या आत्मा की शुद्धता कहो–दोनों एक ही हैं।

दानादि की शुभवृत्ति हुई, वह पहले नहीं थी और नवीन हुई, इससे वह कृत्रिम है। आत्मा का ज्ञाता स्वभाव नित्य-स्थायी है, उस स्वभाव की रुचि किये बिना अनादि से पर की रुचि और पर में से सुख प्राप्त करने की बुद्धि को अज्ञानी नहीं छोड़ता। 'पाप से तो दुःख होता है, परन्तु पुण्य से सुख और धर्म होता है।'–ऐसा अज्ञानी मानता है, लेकिन वह मान्यता मिथ्या है। पाप की भाँति पुण्य भी विकार है–आस्रव है–दुःखरूप है, उससे धर्म नहीं होता। आत्मा का स्वभाव सहज आनन्दरूप है, किन्तु उसे भूलकर बाह्य लक्ष्य से आकुलता उत्पन्न की है। स्वभाव का भान करने से जो आनन्द प्रगट होता है, वह अपने स्वभाव में से ही प्रगट होता है, कहीं बाह्य संयोगों में से नहीं आता। कच्चे चने में स्वभाव से मिठास भरी हुई है, वही उसे सेकने से प्रगट होती है। रेती, अग्नि या कड़ाही आदि में से वह मिठास नहीं आयी है, परन्तु चने में से ही आयी है। चने के स्वभाव में रेती आदि संयोग का अभाव है। परमाणु की अवस्था का एक दूसरे में अन्योन्य अभाव है, और चैतन्य की अवस्था का जड़ में अत्यन्त अभाव है। चने का मीठा स्वभाव ध्रुव है, उसके आधार से तूगश का व्यय होकर मिठास की उत्पत्ति हुई है, वह प्राप्त की प्राप्ति है। वस्तु में जो स्वभाव न हो, वह उसमें से प्रगट नहीं होता। स्वभाव में हो तो अवस्था में प्रगट होता है। संयोग में से अवस्था प्रगट नहीं होती। चने की मिठास उसके स्वभाव में से प्रगट हुई है, संयोग में से प्रगट नहीं हुई। यदि लकड़ी, अग्नि आदि संयोगों में से वह मिठास आती हो तो कंकरों के सेकने से उनमें भी मिठास आ जाना चाहिए। लेकिन कंकरों में वह स्वभाव नहीं है, इससे उनमें मिठास नहीं आती। लोग बाह्य संयोग को देखते हैं और उस संयोग से कार्य का होना मानते हैं; परन्तु पदार्थ के स्वभाव से कार्य होता है, उस स्वभाव को नहीं देखते। संयोग-दृष्टि से ही संसार बना है। स्वभाव में संयोग का अभाव है, अर्थात् उसमें वह नहीं है। तथापि जिसमें जो नहीं हैं, उसमें उससे कुछ होता है–ऐसा अज्ञानियों ने मिथ्या भ्रान्ति से माना है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वयं आनन्दस्वभावी है; पुण्य-पाप के भाव में से या लड्डु, स्त्री, लक्ष्मी आदि में से उसका आनन्द नहीं आता; क्योंकि उनमें कहीं भी आत्मा का आनन्द नहीं भरा है। जहाँ आनन्द भरा है, उस वस्तु को न जाने और बाह्य से आनन्द लेना माने, उसे कभी आनन्द

प्रगट नहीं होता। चैतन्य का आनन्द चैतन्य में है; उसे जाने बिना और उसकी प्रीति किए, बिना दूसरे चाहे जितने क्रियाकाण्ड करे, तथापि धर्म नहीं होता और आनन्द प्रगट नहीं होता। चैतन्य आनन्दमूर्ति का भान करके उसमें एकाग्र होने से भ्रमभाव और आकुलतारूप कचास दूर होती है तथा ज्ञातास्वभाव का सहज आनन्द प्रगट होता है; वह जीव पुनः संसार में अवतार नहीं लेता।

अज्ञानपने में जो रुचि पर को अपनेरूप स्वीकार करती थी तथा विकार के अंश को ही पूर्ण स्वरूप मानती थी, उसने अब कुलांट मारकर, स्वोन्मुख होकर त्रिकाली पूर्णानन्द द्रव्य का स्वीकार किया। जिस रुचि से त्रिकाली पूर्णानन्द द्रव्य की ओर उन्मुख होकर उसका स्वीकार किया, उस रुचि के साथ आनन्द का अंश व्यक्त न हो–ऐसा नहीं होता। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र का अंश, आनन्द का अंश, पुरुषार्थ–वह सब रुचि के साथ ही हैं, इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि अरे आत्मा! एक बार तो पर की प्रीति छोड़कर तू इस भगवान आत्मा के सन्मुख देख, और उसकी प्रीति में लीन हो, तो तुझे अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

'एक बार तो सामने देखो मेरे साहब!'–अरे चैतन्य साहब! एकबार तो अपने स्वभाव-सन्मुख देखकर उसकी प्रीति कर। अभी तक पर की महिमा की, अब एक बार तो भगवान! तेरी अपनी महिमा कर।

जब तक वीतराग न हो, तब तक पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, परन्तु वह स्व में या पर में कार्यकारी नहीं होती। राग द्वारा शरीरादि में या द्वेष द्वारा शत्रु आदि में कुछ परिवर्तन नहीं किया जा सकता; और वह पुण्य-पाप की वृत्ति आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों में भी कुछ सहायक हो–ऐसा त्रिकाल में नहीं होता। यदि ऐसा समझे तो परसन्मुख दृष्टि दूर हो जाये और पुण्य-पाप की रुचि उड़ जाये, इससे स्वभाव-सन्मुख होकर उसकी प्रीति हो। अनन्तकाल से तूने पर-सन्मुख ही देखा है, इसलिए हे भव्य! अब अपने ज्ञाता स्वभाव की ओर देख! जिसमें तेरा आनन्द स्वभाव भरा है, उसके सन्मुख देखने से वह प्रगट होगा, लेकिन जहाँ वह (तेरा आनन्द) नहीं है, उसकी ओर देखने से प्रगट नहीं हो सकता। जिसमें स्वभाव हो, उसमें से प्रगट होता है; न हो, उसमें से प्रगट नहीं होता।

एक बार सर्दी के मौसम में कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी; जंगल में बसनेवाले कुछ आदमियों ने तापने के लिए इधर-उधर से घास इकट्ठा करके दियासिलाई से आग जलायी। पास ही एक वृक्ष पर बैठे हुए बन्दर ने यह सब देखा। उसने भी आदमियों की तरह घास का ढ़ेर बना लिया और दियासिलाई की जगह उड़ाते हुए जुगनू को पकड़कर घास के अन्दर रखा, लेकिन आग नहीं जली; क्योंकि जुगनू में अग्नि का स्वभाव नहीं है; दियासिलाई में अग्नि होने का स्वभाव

है। वस्तु के स्वभाव को जाने बिना बन्दर ने मात्र बाह्य संयोग का अनुकरण किया। उसी प्रकार ज्ञानियों को शुभरागरहित चैतन्यस्वभाव का भान होता है और शुभराग भी होता है, वहाँ अज्ञानी जन रागरहित स्वभाव को जाने बिना मात्र शुभराग का अनुकरण करते हैं और उससे धर्म मानते हैं। ज्ञानियों को तो अन्तर में स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान द्वारा धर्म होता है, उसे न जानकर, ज्ञानी को शुभराग होता है, इसलिए उस राग द्वारा उन्हें धर्म होता होगा—ऐसा मानकर अज्ञानी उस राग से धर्म मानते हैं; लेकिन वस्तु का स्वभाव क्या है, उसे वे नहीं जानते। ज्ञानी को शुभ-अशुभभाव होने पर भी अन्तर में भान है कि यह दोनों भाव विकार हैं, इनसे हमारा कल्याण नहीं है—हमारा स्वरूप इनसे भिन्न प्रकार है। अज्ञानी तो पुण्यभाव से कल्याण मान लेते हैं, पुण्य-पाप से रहित त्रिकाल पवित्र स्वभाव है—उसकी वे रुचि नहीं करते, और विकार की रुचि करते हैं—वह विपरीत रुचि उन्हें अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है। क्यों? क्योंकि-आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुण हैं, उनकी रुचि और आदर न करके, एक चारित्रगुण के क्षणिक विकार की और संयोग की रुचि तथा आदर करके आत्मा के अनन्त पवित्र-गुणों का अनादर किया, इससे वह अनन्त संसार-परिभ्रमण का कारण है। और यदि चैतन्यस्वभाव की रुचि करे, उसमें लीन हो तो अनन्तकाल तक अनन्त सुख प्रगट हो। चैतन्य की रुचि किए बिना कभी शान्ति नहीं होती।

आत्मा क्या कार्य कर सकता है और क्या नहीं कर सकता? तथा, आत्मा क्या करे तो उसे धर्म हो और क्या करे तो अधर्म हो?— उसकी यह बात है। प्रथम तो आत्मा अपने अतिरिक्त किसी परपदार्थ में कुछ भी कार्य कर ही नहीं सकता, इसलिए देहादि परपदार्थों की किसी भी क्रिया से आत्मा को धर्म या अधर्म नहीं होता। कर्ता का इष्ट वह कर्म। कर्ता का कर्म (कार्य) अपने में ही होता है, पर मैं नहीं होता। धर्मी-कर्ता का कर्म क्या? पर की अवस्था को तो कोई जीव कर नहीं सकता; और धर्मी जीव क्षणिक पुण्य-पाप के विकारी भावों को भी वास्तव में अपने कर्मरूप से स्वीकार नहीं करता; आत्मा की निर्मल श्रद्धा-ज्ञानरूप कार्य ही उसका कर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों को धर्मी नहीं करता। अज्ञानी जीव विकार को अपना स्वरूप मानकर उसका कर्त्ता होता है, और जड़ का कार्य मैं कर सकता हूँ—ऐसा वह मानता है, उस विपरीत मान्यता का वह अधर्मी जीव कर्ता होता है, परन्तु जड़ का कार्य तो वह नहीं कर सकता।

जिस प्रकार कस्तूरीवाले मृग की अपनी ही नाभि में सुगन्ध भरी है, लेकिन उसका विश्वास छोड़कर बाह्य में भटकता है, उसी प्रकार आत्मा की शान्ति अपने में भरी है, लेकिन उसे न मानकर बाह्य में और शुभाशुभ विकार में सुख मानकर अज्ञानी पराश्रय में भटकता है, और स्वभाव की श्रद्धा नहीं करता।

प्रश्न :– आत्मा के स्वभाव में सुख-शान्ति भरी हुई है–यह बात सच है, लेकिन उसकी श्रद्धा-ज्ञान का निमित्त तो मिलना चाहिए?

उत्तर :– श्रद्धा-ज्ञान करनेवाला जब स्वयं स्व-सन्मुख होकर अपनी पात्रता से श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करता है, तब सत्देव-गुरु आदि पर वस्तुएँ उनके अपने कारण निमित्तरूप से होती हैं; निमित्त न हो–ऐसा नहीं होता। लेकिन आत्मा के आधीन होकर निमित्त को आना पड़ता है–ऐसा माना जाये तो पदार्थ की स्वतन्त्रता नहीं रहती। और निमित्त आत्मा का कुछ कर देते हैं–ऐसा भी नहीं है। यदि स्वयं जागृत होकर श्रद्धा-ज्ञान करे तो होते हैं; स्वयं जागृत न हो तो दूसरा कोई श्रद्धा-ज्ञान करा देने में समर्थ नहीं है। निमित्त है अवश्य, लेकिन वह उपादान में कुछ नहीं करता। एक वस्तु का कार्य स्वतन्त्ररूप से अपने में हो, उस समय दूसरी वस्तु का उसके अपने कारण अस्तित्व हो, उसे निमित्त कहते हैं; लेकिन उपादान-निमित्त एक दूसरे में कुछ करें–यह मान्यता सत्य का घात करनेवाली है।

प्रश्न :– यदि निमित्त कुछ न कर सकता हो तो सत्समागम और श्रवण आदि किसलिए हैं?

उत्तर :– आत्मा का जो स्वभाव है, उसकी दृष्टि और ज्ञान करने की योग्यता जब स्वयं प्रगट करता है, तब सत्समागम और श्रवण-मनन का विकल्प उसे होता है; लेकिन उस सत्समागम के कारण या विकल्प के कारण उसका श्रद्धा-ज्ञानरूपी कार्य होता है–ऐसा नहीं है। वह जीव स्वयं स्वतन्त्ररूप से स्व-सन्मुख होकर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रगट करता है, तब सत्समागम आदि उसे निमित्त कहलाते हैं। किन्तु यदि सत्समागम आदि निमित्तों के कारण ही श्रद्धा-ज्ञान का होना माना ले तो वह कभी निमित्त का लक्ष्य छोड़कर स्वभावोन्मुख नहीं होगा और उसे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रगट नहीं होंगे। एक वस्तु स्वयं अपने में कार्य करे, तब दूसरी वस्तु निमित्तरूप से भले हो, लेकिन दोनों का कार्य स्वतन्त्र है, एक के कारण दूसरी में कार्य नहीं होता।

जीव स्वयं समझे, तब ज्ञानी की वाणी निमित्तरूप से होती है, लेकिन वह वाणी से नहीं समझता। यदि वाणी से समझता हो तो एक ही वाणी सुननेवाले सबको एक-सा समझ जाना चाहिए, लेकिन ऐसा तो दिखाई नहीं देता। सब अपने-अपने ज्ञान के क्षयोपशम की योग्यतानुसार समझते हैं। वस्तुस्वभाव के स्वातंत्र्य की यह बात यदि जीव एक बार भी समझले तो स्वाश्रय-भाव से परमात्मदशा प्रगट करे और पुनः उसे अवतार न हो। जिस प्रकार मक्खन से घृत होने के बाद पुनः मक्खन नहीं बनता। उसी प्रकार अवतार करनेवाले जीव की मुक्ति होने के बाद पुनः उसे अवतार नहीं होता। जीव ने अब तक के अनन्तकाल में उसने क्या किया? अनन्तकाल से अज्ञानभाव के कारण पुण्य और पाप करके उसने स्वर्गादि चारों गतियों में परिभ्रमण किया है।

संसार में भ्रमण करते हुए जीव ने मात्र पाप ही नहीं किए हैं, परन्तु पुण्य भी अनन्तबार करके अनन्तबार स्वर्ग में गया है। अनन्तकाल में पुण्य भी किए हैं, किन्तु पुण्य-पाप रहित आत्मस्वभाव का आराधन एक क्षण भी नहीं किया। स्वभाव से च्युत होकर विकार का आराधन करता है, वही उसका अपराध है, वह अपराध किसी कर्म ने नहीं कराया है; और कर्म जीव को संसार में परिभ्रमण नहीं कराते, परन्तु स्वयं अपने अपराध से ही भटकता है। कर्म परिभ्रमण कराते हैं—ऐसा कहना मात्र आरोप का कथन है, यथार्थरूप से ऐसा नहीं है।

कर्म जीव को राग-द्वेषादि विकारी भाव कराते हैं—ऐसा अनेक अज्ञानी मानते हैं, लेकिन वह बात मिथ्या है। राग तो आत्मा के चारित्रगुण की विकारी अवस्था है, वह अवस्था स्वयं ही करता है, कोई पर नहीं कराता। आत्मा में अनन्त गुण हैं, उनमें एक चारित्रगुण भी है, उसकी अवस्था प्रति समय अपने से ही होती है; वह दशा या तो निर्मल होती है या विकारी होती है; जब निर्मल दशा नहीं होती, तब विकारी दशा होती है। वह विकार यदि कर्म के कारण होता हो तो उसे दूर करना जीव के हाथ में नहीं रहता, और ऐसा होने से जीव को संबोधकर जो उपदेश दिया जाता है, वह भी निरर्थक जाता है। और यदि कर्म ने विकार कराया हो तो उस समय जीव के चारित्रगुण ने क्या कार्य किया? 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'—पदार्थ में प्रतिसमय उसका उत्पाद स्वतन्त्ररूप से होता है। एक समय में दो उत्पाद नहीं होते। चारित्रगुण में विकार के उत्पाद के समय निर्विकार का उत्पाद नहीं होता। चैतन्य में विकार का उत्पाद जीव स्वयं पर का लक्ष्य करे, तब होता है, कोई दूसरा उसका कर्ता नहीं है। आत्मा स्वयं कर्ता है और विकारी या अविकारी भाव, वह उसका कर्म है। जड़ कर्म उससे भिन्न है। आत्मा जड़ कर्म को नहीं करता और जड़ कर्म आत्मा को विकार नहीं कराता।

यदि स्वयं करे तो चैतन्य में भूल होती है, तथापि दूसरों के सिर पर डालने की अनादि से आदत पड़ गई है। किसी ने गाली दी, इसलिए क्रोध हुआ—ऐसा मानता है; लेकिन भाई! तूने किसलिए क्रोध किया? तुझे शान्ति रखना थी न! उसी प्रकार शास्त्रों का अभ्यास करने के पश्चात् ऐसा मानता है कि कर्म का उदय क्रोध कराता है, लेकिन ऐसा नहीं है। भाई! कर्म का तो तुझमें अत्यन्त अभाव है। अरे भगवान! वह कर्म तुझमें क्या करेगा? चार प्रकार के अभाव का वर्णन आता है, उसमें महा-सिद्धान्त है। आत्मा की अवस्था और जड़ कर्म की अवस्थ का एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है। देव-गुरु-शास्त्र, आत्मा को गुणकारी होते हैं और जड़ कर्म का उदय आत्मा को दोष कराता है—इस प्रकार गुण और दोष दोनों पर कराता है—ऐसी पराधीनता अज्ञानी मानते हैं, यानी स्वयं तो स्वाधीन तत्त्व ही न हों, पुरुषार्थहीन हों—ऐसा मानते हैं। अपने गुण-दोष

का कर्ता स्वयं तो स्वतन्त्ररूप से नहीं रहा, इसलिए दोष दूर करके गुण प्रगट करने में आत्मा की स्वतन्त्रता नहीं रही।–ऐसी अज्ञानी की मान्यता, वह घोर मिथ्यात्व है। आत्मा स्वयं अपने अपराध से दोष करता है और स्वयं ही सच्चे पुरुषार्थ से उसे दूर करता है,–दोनों में आत्मा की स्वाधीनता है; परवस्तु तो उसमें निमित्तमात्र है; वह आत्मा को कुछ भी गुण-दोष नहीं कराती। आत्मा के गुण-दोषों में परवस्तु का अभाव है।

भाई ! अपनी स्वतन्त्रता की महिमा तूने कभी नहीं जानी और पराधीनता ही मानी है; इससे जड़ को भी स्वतन्त्र न मानकर पराधीन मानता है। जड़ के कारण तेरी अवस्था नहीं होती, और तेरे कारण जड़ की अवस्था नहीं होती। यदि पर के कारण विकार होता हो तो उसे दूर करने के लिए पर सन्मुख ही देखना रहा, इससे विकार के समय शुद्धस्वभाव सन्मुख देखकर उसकी रुचि करने का अवकाश नहीं रहता। इसलिए वह पराधीनपने की मिथ्या मान्यता छोड़कर तू स्वाधीन आत्मा की रुचि कर।

यहाँ तो आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि तू आत्मा की प्रीति कर। अभी तक आत्मा को भूलकर विकार की प्रीति भी तूने ही की है, वह उलटी प्रीति कर्म ने नहीं करायी है। और अब उस प्रीति को हटाकर आत्मा के शुद्धस्वभाव की प्रीति भी तू ही कर सकता है; इसलिए कहा है कि तू ऐसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके उसी की प्रीति कर।

विकार को भी जो स्वतन्त्र न माने, किन्तु पर कराता है–ऐसा माने, तो उसे विकार को दूर करने में भी आत्मा की स्वतन्त्रता नहीं रहती। विकार पर कराता है और पर दूर करता है–ऐसा माना, इसलिए आत्मा के हाथ की कुछ बात ही नहीं रही।

आत्मा और जड़ दोनों भिन्न हैं, वे एक दूसरे का कुछ नहीं करते। कर्म अजीव है, उसके कारण आत्मा में विकार नहीं होता। यदि एक तत्त्व के कारण दूसरे तत्त्व में कुछ हो तो वे दोनों तत्त्व ही पृथक् नहीं रहते, इससे अनेकान्त का ही लोप हो जाता है। दो तत्त्वों को पृथक् कहना और एक दूसरे में कुछ करते हैं–ऐसा कहना–वह विरुद्ध बात है। आत्मा स्वयं स्वभाव को भूलकर या अस्थिरता से राग-द्वेष करता है, वह आत्मा के चारित्रगुण की विपरीत दशा है, वह दशा गुण ने स्वयं की है। यदि गुण अपनी दशा स्वयं न करे और दूसरा कराये, तो वह गुण की दशा नहीं रहती। और यदि अवस्था को स्वतन्त्र न माने तो स्वभावोन्मुख होना नहीं रहता, तथा 'तुम ऐसा करो'–ऐसा उपदेश देना भी नहीं रहता।

'हे जीव ! तू आत्मा की प्रीति कर !'–ऐसा उपदेश कब किया जाता है ?–यदि जीव अपनी अवस्था को बदलने में स्वतन्त्र हो, तभी ऐसा उपदेश होता है। यदि जड़ कर्म, जीव को रोकता हो

तो, उस जड़ को उपदेश देना चाहिए कि – हे जड़कर्म! तू दूर हो जाना! किन्तु क्या जड़ को उपदेश होता है? चैतन्य को संबोधकर उपदेश है कि हे भव्य! तू विकार की रुचि छोड़कर आत्मा की रुचि कर! अब यदि, चैतन्य में वह रुचि करने की स्वतन्त्रता न हो तो वह उपदेश निरर्थक ठहरता है। चैतन्य की स्वतन्त्रता है, इसी से उसे उपदेश है। अहो! ऐसे अपने स्वाधीन चैतन्यतत्त्व का जीव ने कभी प्रीतिपूर्वक विचार भी नहीं किया है। यदि चैतन्य की प्रीति लाकर इस बात का विचार करे तो अन्तर में यह जमे बिना न रहे; और जिसे यह बात जम जाये, उसकी अल्पकाल में मुक्ति हुए बिना न रहे।

यहाँ आचार्य भगवान चैतन्य की प्रीति करने का उपदेश देते हैं कि–हे भव्य! तू ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करके निरन्तर उसकी प्रीति कर। यदि कोई पर तुझे प्रीति कराता हो तो जब वह पर बदले, तब प्रीति भी पलट जाये, लेकिन ऐसा नहीं है। स्वयं ही पर की प्रीति की है और उसे स्वयं बदल सकता है, इससे उपदेश दिया है। स्वयं विपरीत प्रीति की, तब कर्म का उदय निमित्तरूप था और स्वयं जब उस उलटी प्रीति को दूर करके सीधी प्रीति प्रगट की, तब उलटी प्रीति के निमित्तरूप कर्म भी स्वयं दूर हो गया।

यहाँ 'निरन्तर' आत्मा की प्रीति कर–ऐसा कहा है। जो रुचि अर्थात् प्रीति और ज्ञान आत्मस्वभाव की ओर उन्मुख हुए, वे नित्य स्थायी रहते हैं। नित्यस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता करके उसकी प्रीति, ज्ञान और आनन्द प्रगट हुए, वे आत्मा के साथ अभेदरूप से नित्य रहते हैं। अपने स्वभाव की प्रीति करना तेरे ही हाथ में है, इसलिए तू आत्मा की प्रीति कर। हे भव्य! तू आत्मा की प्रीति कर।

अज्ञानी जीव बाह्य संयोग में सुख ढूँढ़ता है।

[वीर सं० २४७६ : पौष शुक्ला १ के दिन चूड़ा शहर में
पद्म० एक्त्व अधिकार गाथा २९ पर पू० श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से]

यह एकत्व अधिकार की २९वीं गाथा हैं; इसमें भी पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं कि– अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों का सम्बन्ध होने पर भी धर्मी महात्माओं को राग-द्वेष त्याज्य है। और अज्ञानी जीव तो अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों के बिना भी राग-द्वेष करते हैं। धर्मी जीव की दृष्टि अपने एकत्व चैतन्यस्वभाव में स्थिर हुई है, इससे किसी भी संयोग को इष्ट या अनिष्ट मानकर उन्हें राग-द्वेष नहीं होता। और अज्ञानी जीव की एकत्व स्वभाव पर दृष्टि नहीं है, परन्तु संयोग पर ही दृष्टि है, इससे बाह्य में अनुकूल-प्रतिकूल संयोग न हों, तथापि पर में इष्ट-अनिष्टपने की कल्पना करके वह राग-द्वेष करता है। ज्ञानी को स्वभावबुद्धि है और अज्ञानी को संयोगबुद्धि है– वह बात आचार्यदेव ने समझायी है। स्वभावबुद्धि में ज्ञानी को राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, और संयोगबुद्धि में अज्ञानी के राग-द्वेष दूर नहीं होते।

आत्मा के अपने स्वभाव में सुख है, उसे भूलकर अज्ञानी जीव संयोग में ढूँढ़ता है। जिस प्रकार कस्तूरीवाले मृग की अपनी नाभि में ही सुगन्ध भरी है, लेकिन उसे अपना विश्वास नहीं है, इससे बाह्य में सुगन्ध को खोजने के लिए भटकता है; उसी प्रकार सिद्ध भगवान जिस सुख को प्राप्त हुए, वह सुख आत्मा के स्वभाव में ही है, लेकिन अज्ञानी को अपने आत्मा की महिमा का विश्वास नहीं जमता, इससे बाह्य संयोगों में से सुख लेना चाहता है; परन्तु बाह्य के किन्हीं भी संयोगों में आत्मा का सुख नहीं है। धर्मी जीव की दृष्टि संयोग में से सुख ढूँढ़ने की नहीं है, अपने सहज ज्ञानस्वभाव में ही सुख है, इसका उसे भान है, और सिद्ध भगवान जैसे सुख का अंशतः अनुभव भी उसे हुआ है। आत्मा, शरीर-मन-वाणी आदि पर संयोगों से रहित स्वयं सुख-आनन्द और ज्ञानस्वरूप है; राग आत्मा का स्थायी स्वरूप नहीं है। इस प्रकार अन्तर में आत्मा का भान होने से रागरहित शान्ति प्रगट होती है, वही धर्म है। धर्म और सुख पृथक् नहीं हैं। धर्म इस समय करे और उसका सुख भविष्य में मिले–ऐसा नहीं है, किन्तु जिस क्षण धर्म करे, उसी क्षण आत्मा में सुख प्रगट होता है।

लोग सुख की इच्छा रखते हैं, लेकिन उसके कारण का आदर नहीं करते; और दुःख की किंचित्मात्र इच्छा नहीं रखते, परन्तु उसके कारण में सदैव लगे रहते हैं। लोग सुखी होना चाहते हैं, लेकिन सुखी होने का उपाय तो आत्मा को यथार्थ समझ लेना है, उसे वे नहीं समझते और

लक्ष्मी आदि में सुख मानकर उसके लिए दिन-रात मिथ्या प्रयास करते हैं; और अधिक–तो पुण्य को सुख का कारण मानकर वहाँ रुक जाते हैं। सच्चिदानन्दमूर्ति आत्मा का भान अनन्तकाल में एक क्षणमात्र भी नहीं किया है। पर-पदार्थों में सुख है–ऐसा मान रखा है, इसलिए सारा जगत् पैसा-प्रतिष्ठा-स्त्री आदि बाह्य में सुख ढूँढ़ता है। आत्मा के स्वभाव में सुख है, परन्तु उसे न जानने से अज्ञानी की दृष्टि संयोग पर है, अर्थात् मुझमें सुख नहीं है और संयोगों में मेरा सुख है–ऐसी विपरीत मान्यता है, वह मान्यता ही उसे महान दुःख का कारण है। धर्मी जीव समझता है कि जो संयोग हैं, वह मैं नहीं हूँ, उनमें मेरा सुख नहीं है; अपने असंयोगी-एकत्व चैतन्यस्वभाव में ही मेरा सुख है।

आत्मा अनादि-अनन्त वस्तु है; उसे कभी किसी ने नवीन नहीं बनाया है और उसका कभी नाश नहीं हो जाता। आत्मा सदैव ज्ञानस्वरूपी है। जिसप्रकार-नमक खारा है, मिश्री मीठी है, खड़िया सफेद है, कोयला काला है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है। आत्मा वस्तु क्या है, वह कभी नहीं जाना है। आत्मा का पर से भिन्न स्वभाव कैसा है–उसकी यथार्थ समझ सुख का कारण और मिथ्या समझ दुःख का कारण है। लोग दुःख को दूर करके सुखी होना चाहते हैं, परन्तु विपरीत समझ को हटाकर सच्ची समझ नहीं करते। यह उपाय किये बिना दुःख दूर होकर सुख कहाँ से हो? जिसका जो मार्ग हो, वह लेना चाहिए! देहली जाना हो, और देहली उत्तर दिशा में हो; उसके बदले दक्षिण में चलने लगे तो देहली नहीं पहुँच सकेगा। देहली के मार्ग में जाने से ही देहली पहुँच सकता है। उसी प्रकार जीवों को सुख चाहिए है; वह सुख तो आत्मा में है, आत्मा को समझने के मार्ग से सुख होता है; किन्तु आत्मा को छोड़कर बाह्य के किसी भी मार्ग से कभी सुख नहीं होता।

प्रत्येक आत्मा सुख प्राप्त करना चाहता है। अज्ञानभाव से पर को दुःखी करके भी स्वयं सुखी होना चाहता है। सभी वस्तुओं को छोड़कर, अन्त में इस शरीर को भी छोड़कर सुख लेना चाहता है। शरीर जाने से तो अकेला आत्मा रहता है; इसलिए यदि अकेले आत्मा में सुख न हो तो शरीर को छोड़कर भी सुख लेने की इच्छा न करे। इससे सिद्ध होता है कि–शरीर में या किसी संयोग में सुख नहीं है, परन्तु आत्मा में ही सुख है।–लेकिन अज्ञानी को अपने स्वभाव में ही सुख है–उसका विश्वास नहीं आता, इसलिए बाह्य में उसका उपाय ढूँढ़ता है। यदि अपने में ही सुख का अस्तित्व न हो तो बाह्य में उसका आरोप करके न ढूँढ़े। जिसने अज्ञानभाव से पर में सुख का आरोप किया है, उसके अपने में अनारोप–वास्तविक सुख भरा है; लेकिन भान नहीं है कि सुख कहाँ है। कभी गहरा विचार भी नहीं किया है। अपमान होने से गले में फाँसी लगाकर मर जाता है।

देखो, वहाँ अपमान के दुःख से प्राण निकल जाते हैं, वह सरल मालूम होता है। पहले, शरीर का एक रोम भी खींचा जाये, तो उसमें दुःख मानता था, उसके बदले अब अपमान में दुःख की कल्पना हो गई है, इससे शरीर को छोड़कर भी उस दुःख से छूटना चाहता है। इस प्रकार संयोग से छूटकर सुखी होना चाहता है, लेकिन कहाँ जाकर लक्ष्य को स्थिर रखना—उसका उसे भान नहीं है। संयोग से छूटकर सुख लेना चाहता है, उसका अर्थ यह हुआ कि संयोगरहित अकेले आत्मा में रहकर सुखी हुआ जाता है। संयोग रहित अकेले आत्मा में सुख की सत्ता है। इसलिए यदि चैतन्यस्वभाव को पहचानकर उसके लक्ष्य से एकाग्रता पूर्वक शरीरादि संयोगों का ममत्व छोड़ दे तो आत्मा में यथार्थ सुख हो। चैतन्यस्वभाव के लक्ष्य बिना, मात्र बाह्य संयोगों से छूटकर सुखी होना चाहे तो वह सुख का उपाय नहीं है, क्योंकि संयोग के कारण आत्मा को दुःख नहीं है, इससे संयोग छूटे तो दुःख दूर हो जाये—ऐसा नहीं है। संयोग से पार चैतन्यस्वभाव का भान करके जितनी एकाग्रता प्रगट करे, उतना सुख प्रगट होता है। यही सुख का उपाय है।

निवेदन

धार्मिक पुस्तकें या आत्मधर्म आदि मँगाने के लिए हिन्दी भाषा में पत्र-व्यवहार करनेवाले बन्धुओं से निवेदन है कि अपना पता और स्टेशन का नाम इंग्लिश में स्पष्ट अक्षरों में लिखें। पता साफ न होने से कभी-कभी पुस्तक आदि भेजने में कठिनाई पड़ती है।

व्यवस्थापक
पुस्तक ब्रिकी विभाग
जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़

अज्ञानी की विपरीत दृष्टि में ...

आत्मा निर्मल है, राग-द्वेष क्षणिक है; वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता;–यह बात सुनकर कोई कहे कि–हम तो अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि आत्मा, शरीर का कार्य करता है, फिर भी आप ना क्यों कहते हो? तो उससे कहते हैं कि हे भाई! सोच तो सही, तूने अपनी आँखों से क्या देखा? तू आत्मा को तो जानता नहीं है, तब फिर तुझे इसकी क्या खबर पड़ेगी कि आत्मा क्या करता है? शरीर चलता है, इतना आँखों से दिखलायी देता है; परन्तु शरीर उसके अपने कारण से चले, वहाँ मान बैठा कि मैंने शरीर को चलाया है। और कहता कि अपनी आँखों से देखा है। तूने 'बछड़े के अण्डे' जैसा आँखों से देखा है। कोई यह कहे कि अण्डा फूटकर उसमें से बछड़े को निकालता हुआ मैंने अपनी आँखों से देखा है, तो उसकी बात प्रत्यक्ष मिथ्या है; क्योंकि बछड़े का अण्डा होता ही नहीं। कहीं अण्डा फूटा और उसी समय पास की झाड़ी में से खरगोश का बच्चा भागता हुआ दिखायी दिया, वहाँ मूर्ख मान बैठा कि अण्डे में से बछड़ा निकला है, और मैंने आँखों से देखा है। उसी प्रकार शरीर की क्रिया तो उसके अपने कारण होती है, और आत्मा उसे जानता है; वहाँ–'यह शरीर की क्रिया मुझसे हुई–यह आँखों से देखा है।'–ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु भाई! आत्मा पर का कर ही नहीं सकता; तो तूने वह देखा कहाँ से? तेरी देखने की दृष्टि ही विपरीत है। आत्मा पर का कर ही नहीं सकता–यह बात जब तक तेरे ज्ञान में न जमे, तब तक उस सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करता ही रह! सर्वज्ञ की बात में अन्तर नहीं पड़ सकता; इसलिए जब तक सर्वज्ञ के कथनानुसार तेरे ज्ञान में न जमे, तब तक श्रवण-मनन करके ज्ञान प्राप्त करता रह। बाप-दादा के बहीखाते में लिखी हुई बात समझ में न आये तो कहता है कि पिताजी तो बहुत होशियार थे, उनकी भूल हो ही नहीं सकती; मेरी ही भूल होगी;–इस प्रकार पिता के बहीखातों में शंका नहीं करता। उसी प्रकार परम पिता सर्वज्ञदेव की भूल हो ही नहीं सकती। सर्वज्ञ भगवान के कथनानुसार प्रयोजनभूत रकम की सम्यक्श्रद्धा और सम्यक्ज्ञान होना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र होता है और चारित्र होने से कर्मों का नाश होता है। कर्मों का नाश होने पर सर्व आत्माओं को प्रिय–ऐसा सुख प्रगट होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन ही सुख की नींव है। सत्समागम से तत्त्व का यथार्थ निर्णय करना वह सम्यग्दर्शन का उपाय है।

[मुक्ति का मार्ग से]

श्री परमात्म-प्रकाश-प्रवचन (लेखांक - ४)

परमात्म-प्रकाश गाथा ३-४ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के व्याख्यान का सार

(२६) नमस्कार का स्वरूप

ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं सिद्ध-भगवान को नमस्कार करता हूँ। परमार्थ से कोई जीव पर को नमस्कार नहीं करता, परन्तु अपने ही आत्मा को नमस्कार करता है। यहाँ किस प्रकार सिद्ध को नमस्कार करते हैं? सिद्ध जैसा अपना वीतरागस्वभाव है, उसकी पहचान करके वीतरागी स्वसंवेदन करता है; वही सिद्ध को भावनमस्कार है। बाह्य में नमस्कार करने को कहना, वह व्यवहार है। स्वभाव के भानपूर्वक नमस्कार का विकल्प उठा, सो द्रव्यनमस्कार है।

(२७) नमस्कार कौन करता है?

प्रश्न :– यदि स्वयं अपने को ही नमस्कार करता है, तो सिद्ध भगवान भी अपने स्वरूप का ही अनुभवन करते हैं; तो क्या सिद्ध भी स्वयं अपने को नमस्कार करते हैं?

उत्तर :– नमस्कार करना छद्मस्थ को ही होता है। सिद्ध भगवान को सम्पूर्णता प्रगट हो गई है, इससे अब उनको स्वरूपोन्मुख होना शेष नहीं रहा है। जो जीव स्वभाव की ओर उन्मुख होता है, वही सिद्ध की स्तुति करता है। स्वरूप में जितने अंश में ढ़ला है और विशेष ढ़लता है, उसे नमस्कार कहते हैं। स्वरूप में पूर्ण ढ़ल जाने के पश्चात् विशेष ढ़लना नहीं होता, इसलिए केवली या सिद्ध भगवान नमस्कार नहीं करते।

प्रश्न :– बारहवें गुणस्थान में क्षायिकभाव प्रगट होने पर भी वहाँ स्तुति कही है; परन्तु वहाँ राग तो नहीं है?

उत्तर :– परन्तु अभी स्वरूप में सम्पूर्णतया परिणमित नहीं हुए हैं, और अभी स्वरूप में ढ़ल रहे हैं, इसलिए उनके भी स्तुति कही गई है। साक्षात् तीर्थङ्कर को वन्दन करना तो राग है, वह द्रव्य-स्तुति है, उसमें अशुभ से बचकर शुभराग होता है, उस राग से धर्म नहीं होता। बारहवें गुणस्थान में राग नहीं है, तथापि अभी स्वरूप में पूर्णरूप से ढ़ले नहीं हैं, इसी से केवलज्ञान नहीं हुआ है। वह जीव भी अभी स्वरूप में विशेष-विशेष ढ़लता है। इसलिए वहाँ भाव-नमस्कार का सद्भाव है।

वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनरूप भाव है, वह सच्ची स्तुति है, उसमें इन्द्रिय या मन का अवलम्बन नहीं है; राग की अपेक्षा नहीं है, अकेला स्व-संवेदन अर्थात् अपने आत्मा का ही वेदन करता है, वही स्तुति है। स्वरूप में लीनता की वृद्धि हो और सिद्ध भगवान जैसा आनन्द क्रमशः

बढ़ता जाये, वह सच्ची भावस्तुति है। परन्तु सिद्ध तो पूर्णतया स्वरूप में जम गये हैं, इससे अब उनके स्तुति नहीं है। अपूर्ण लीनता हो और विशेष लीनता करे, तब नमस्कार कहलाता है। वह बारहवें गुणस्थान तक है। उसके पश्चात् पूर्णता प्रगट हो गई है, इससे स्तुति नहीं होती।

वंद्यवंद्यक भाव का विकल्प तो छट्ठे गुणस्थान तक ही होता है, परन्तु स्वरूपोन्मुखतारूप भावस्तुति बारहवें गुणस्थान के अन्त तक होती है; रागरहित परमात्मस्वरूप का भान होने के पश्चात् उस स्वरूप में ढ़लकर जितनी-जितनी स्थिरता होती जाये, उतनी भावस्तुति है। बारहवें गुणस्थान में भावस्तुति कही, परन्तु वहाँ विकल्प नहीं है, मात्र अभी स्वरूप में परिणमित होना शेष है और विशेषरूप से परिणमित होते हैं, इससे यहाँ भावस्तुति है। सम्यग्दृष्टि जीव साक्षात् वीतराग तीर्थङ्करदेव को नमस्कार करे—उसमें भी जो राग है, वह परमार्थ स्तुति नहीं है। यहाँ मुनिदशा में झूलते हुए मुनि स्वयं सच्चा नमस्कार करने की रीति कहते हैं कि—मैं अपने स्वरूप की एकाग्रतारूप वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञानरूप परमार्थ सिद्ध-भक्ति द्वारा सिद्धों को नमस्कार करता हूँ।

(२८) नमस्कार का तात्पर्य

वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर स्वामी आदि अरिहन्तपद पर विराज रहे हैं, उन्हें यहाँ सिद्ध भगवान के रूप में वन्दन किया है। वे वर्तमान में केवलज्ञानादि गुणों सहित हैं। घातिकर्मों का तो क्षय किया है और अघाति कर्मों का भी प्रतिसमय क्षय करके वर्तमान मैं सिद्धदशा प्राप्त कर रहे हैं; इससे उनको वर्तमान में सिद्धपद के रूप में नमस्कार किया है। वे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूपी अभेद रत्नत्रय हैं। उन्हें नमस्कार किया है, उसका तात्पर्य यह है कि ऐसी अभेद-रत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधि ही मुझे उपादेय है; इसके अतिरिक्त कोई भी राग-विकल्प को मैं उपादेय नहीं मानता हूँ।

(२९) सिद्धदशा होने का क्रम

कुदेवादि को माने, वह तो तीव्र मिथ्यात्व है; और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानने से सम्यग्दर्शन माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। देव-गुरु-शास्त्र परद्रव्य के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन मानना, सो मिथ्यात्व है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को मानना, वह राग है और उस राग में धर्म मानना, सो मिथ्यात्व है। पराश्रयरहित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता ही सच्चे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

त्रिकाली रागरहित स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप अभेदरत्नत्रयमय निर्विकल्प समाधि में स्थिररूप से श्री सीमन्धरादि भगवन्त विराज रहे हैं; और इस निर्विकल्प समाधिरूपी अग्नि में अघाति कर्मोंरूपी ईधन का होम कर रहे हैं। स्वभाव की पहचान करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया

और स्थिरता करने से केवलज्ञानदशा प्रगट हुई; तथापि अभी अघाति कर्मों का सम्बन्ध है और जीव के प्रतिजीवी गुण की पर्याय में अशुद्धता है; वह अशुद्धता प्रतिक्षण कम होती जाती है और अघाति कर्म स्वयं टलते जा रहे हैं, इससे 'अघाति कर्मों का होम करते हैं'—ऐसा उपचार से कहा है। सिद्धदशा में प्रतिजीवी गुण प्रगट नहीं होते, परन्तु उन गुणों की निर्मल पर्याय प्रगट होने से 'गुण प्रगट हुआ'—ऐसा अभेद विवक्षा से कहा जाता है।

(३०) ज्ञानी के व्यवहार होता है या नहीं?

यहाँ सिद्ध भगवान को नमस्कार करने का स्वरूप बतलाया है; उसे जानने का तात्पर्य क्या है? अर्थात् भावार्थ क्या है? शुद्धात्मद्रव्य की प्राप्ति करने का उपाय निर्विकल्प समाधि है, वही उपादेय है—यही सार है। बीच में विकल्परूप व्यवहार आता ही नहीं—ऐसा नहीं समझना। स्वभाव का भान होने के पश्चात् भी विकल्प और शुभराग आते अवश्य हैं, परन्तु वह सिद्धदशा का उपाय नहीं है; उपाय तो एक वीतरागी निर्विकल्प स्वसंवेदन ही है।

ज्ञानी के भी शुभराग और निमित्त होते हैं; साधकदशा में वे आये बिना नहीं रहते; तथापि ज्ञानी उनसे लाभ नहीं मानते। अज्ञानी को उसका भान नहीं है; या तो कहेगा कि सच्चा ज्ञान होने के पश्चात् वह व्यवहार होना ही नहीं चाहिए, और हो तो वह मिथ्यात्व है; अथवा तो कहेगा कि उस व्यवहार से धर्म होता है। यह दोनों मिथ्यदृष्टि हैं।

ज्ञानी को व्यवहार आता है, परन्तु उससे वे धर्म नहीं मानते। निश्चय प्रगट होने के पश्चात् उसके साथ किस भूमिका में कैसा व्यवहार होता है—वह ज्ञानी ही जानते हैं, अज्ञानी को उसकी खबर नहीं पड़ती।

(३१) पूर्ण परमात्मदशा कैसे प्रगट होती है?

परमार्थ से सभी आत्मा पूर्ण परमात्मस्वरूप हैं, परन्तु पर्याय में परमात्मदशा प्रगट नहीं है। पूर्ण परमात्मदशा प्रगट करने का उपाय क्या है? पूर्ण द्रव्य पर दृष्टि और स्थिरता करने से जो वीतरागी समाधि प्रगट होती है, वही पूर्ण परमात्मदशा प्राप्त करने का उपाय है। पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो, उसी को अभेदरूप से शुद्धात्मद्रव्य की प्राप्ति कहा जाता है।

अब, जो सिद्धदशा प्रगट करके सिद्ध हुए हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं। वे किस प्रकार सिद्ध हुए हैं? मुनिदशा प्रगट करके सम्यग्ज्ञान के बल से ही कर्मों का क्षय करके सिद्ध हुए हैं। कहीं जीव दया पालन करने से अथवा बाह्य व्रत-तप से सिद्ध नहीं हुए हैं; परन्तु सिद्ध होनेवाले सभी जीव शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान के बल से ही कर्मों का क्षय करके सिद्ध हुए हैं। साधकदशा में सम्यग्ज्ञान द्वारा स्वरूप की एकाग्रता करना ही परमार्थ से व्रत-तप है। अज्ञानियों के

माने हुए व्रत-तप ज्ञानियों के कभी आते ही नहीं; क्योंकि अज्ञानी तो शुभरागरूप व्रत-तप को धर्म मानते हैं; परन्तु ज्ञानी तो राग के कर्ता ही नहीं बनते; इसलिए ज्ञानदशा के पहले या ज्ञानदशा के पश्चात् भी, अज्ञानियों द्वारा मानी हुई व्रत-तपादि क्रियाओं से धर्म नहीं है।

(३२) जिनको सिद्धदशा प्रगट हो गई है, उन्हें नमस्कार

पहले की दो गाथाओं द्वारा भविष्य में होनेवाले सिद्धों को और वर्तमान में जो सिद्ध होते हैं, उनको नमस्कार करके, अब जो सिद्ध हो गये हैं और निर्वाणदशा में विराज रहे हैं–ऐसे सिद्ध भगवन्तों को इस चौथी गाथा द्वारा नमस्कार करते हैं :–

(गाथा-४)

ते पुण वंदउं सिद्धगण जे णिव्वाणि वसंति।
णाणिं तिहुयाणि गुरुया षि भवसायरिण पडंति॥४॥

अर्थ :– और मैं मोक्षदशा में विराजमान सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करता हूँ, वे सिद्ध भगवन्त अपने ज्ञान द्वारा तीन जगत् में गुरु (श्रेष्ठ-बड़े) होने पर भी भव-सागर में नहीं गिरते। जो वस्तु भारी होती है, वह पानी में डूब जाती है, परन्तु सिद्ध भगवान ज्ञान की अपेक्षा से सबसे महान होने पर भी संसाररूपी समुद्र में नहीं डूबते, अर्थात् सिद्धदशा होने के पश्चात् कभी अवतार नहीं होता।

ग्रन्थकार स्वयं सन्त-मुनि हैं और सिद्धों को नमस्कार करने से स्वयं को उल्लास आया है, इससे कहते हैं कि–जो मुनि, आत्मा को हस्तामलकवत् जानकर, वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से सिद्ध हुए उनको मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसे कौन-कौन सिद्ध हुए हैं? श्री ऋषभादि तीर्थङ्करदेव, सुकुमाल मुनि, भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती, पाण्डव, रामचन्द्र इत्यादि अनन्त जीव निर्विकल्प स्वसंवेदन के बल से सिद्ध हुए हैं। यहां निर्विकल्पता राग की नास्ति बतलाती है और स्वसंवेदन स्वरूप का एकाग्रतारूप अनुभव की अस्ति बतलाता है। पूर्व में स्वसंवेदन वेदन के बल से निज शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त करके जो परम समाधानरूप मोक्षपद में विराज रहे हैं, उन्हें नमस्कार हो। जितने अंश में आत्मा का समाधान हो, उतनी शान्ति है; सम्पूर्ण आत्मसमाधान, सो मोक्ष है॥४॥

(गाथा-५)

ते पुणु वदउं सिद्धगण, जे अप्पाणि वसंत।
लोयालोउ विसयलु इहु, अच्छहिं विमलु णियंत॥५॥

अर्थ :– मैं पुनः उन सिद्धों के समूह को नमस्कार करता हूँ कि जो निश्चयनय से अपने

आत्मस्वरूप में विराज रहे हैं और व्यवहारनय से समस्त लोकालोक के संशयरहित प्रत्यक्ष देखते हुए विराज रहे हैं।

(३३) जानने में निश्चय–व्यवहार

केवली भगवान लोकालोक को जानते हैं–ऐसा कहना वह व्यवहार है और आत्मा द्वारा अपने आत्मा को ही जानते हैं–वह परमार्थ है, यदि ऐसा हो कि परमार्थ से पर को जानता है, तो नारकी को जानने से नारकी का वेदन भी ज्ञान में आ जायेगा। इसलिए पर को जानना, वह व्यवहार है।

(३४) नय किसके ज्ञान में होते हैं?

सिद्ध भगवान को तो पूरा प्रमाणज्ञान है; उनके ज्ञान में नय नहीं हैं, परन्तु उन्हें जानते हुए साधक जीव के ज्ञान में नय पड़ते हैं, उसकी यह बात है। 'सिद्ध लोकालोक को जानते हैं'–ऐसा जब साधक जाने, तब साधक के उस ज्ञान में व्यवहारनय है और 'सिद्ध स्वयं अपने आत्मा को जानते हैं'–ऐसा जाने, तब वह निश्चयनय है।

(३५) आत्मा कहाँ रहा है?

सिद्ध भगवान के रहने का क्षेत्र क्या है? परमार्थ से स्वयं अपने आत्मा में ही विराज रहे हैं। सिद्धशिला पर बसते हैं, वह व्यवहार है। यहाँ संसारी आत्मा, शरीर के क्षेत्र में रहता है, वह भी व्यवहार है। परमार्थतः स्वयं अपने में ही रहा है। *[क्रमशः]*

कोई किसी का उपकार नहीं कर सकता, मात्र वैसे भावकर सकता है। x x अनेक लोग दुनिया से कहते हैं कि हमारा स्वार्थत्याग तो देखो, हम दुनियाँ के लिए मर रहे हैं, अपना बिगाड़कर भी दूसरों का सुधार रहे हैं। – लेकिन ऐसा कहनेवाले ने सामनेवाले जीवों पराधीन और निर्माल्य सिद्ध किया है – इस बात की लोगों को खबर नहीं है।

जिज्ञासुओं! ध्यान में रखो कि ...

(१) सम्यक्त्व-सन्मुख जीवों का राग प्रथम संसार की ओर से हटकर सत्देव-सत्गुरु-सत्शास्त्र की ओर ढ़लता है; परन्तु वे उस राग में धर्म नहीं मानते। सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

(२) सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना किसी भी जीव को सच्चे त्याग, व्रत, प्रतिमा, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यान आदि नहीं होते; क्योंकि वे क्रियाएँ प्रथम पाँचवें गुणस्थान में शुभभावरूप से होती हैं। पहले सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् ही पाँचवाँ गुणस्थान आता है।

(३) शुभराग ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को होता है; परन्तु अज्ञानी उससे धर्म होगा—ऐसा मानता है और ज्ञानी उससे कभी धर्म नहीं मानते।

(४) इससे, निचली दशा में शुभभाव करने के लिए मना किया जाता है—ऐसा नहीं समझना चाहिए। शुभराग होता अवश्य है, परन्तु उस शुभ को धर्म नहीं मानना चाहिए और उससे अनुक्रम से धर्म होगा—ऐसा भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि अनन्त वीतरागों ने उसे बन्ध का कारण कहा है।

(५) एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, उसे परिणमित नहीं कर सकता, प्रेरणा नहीं कर सकता, प्रभाव, सहायता या उपकार नहीं कर सकात, लाभ-हानि नहीं कर सकता, जीवन-मरण नहीं कर सकता, और सुख-दुःख नहीं दे सकता—ऐसी प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतन्त्रता अनन्त ज्ञानियों ने पुकार-पुकारकर कही है।

(६) जिनमत मे ंतो ऐसी परिपाटी है, कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं; सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है, और वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिए।

(७) पहले गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों को ज्ञानी पुरुष के धर्मोपदेश का श्रवण, निरन्तर उनका समागम, सत्शास्त्र का अभ्यास-पठन-मनन, श्री जिनेन्द्र के दर्शन, पूजा, भक्ति, दान इत्यादि शुभभाव होते हैं, परन्तु सच्चे-व्रत, तप आदि नहीं होते। *[मुक्ति का मार्ग से]*

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

समयसार -प्रवचन (भाग-१)	[पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन] मूल्य ६-०-०
समयसार -प्रवचन (भाग-२)	[पू० श्री कानजीस्वामी कृत प्रवचन] मूल्य ६-०-०
समयसार -प्रवचन (भाग-३,४)	तैयार हो रहे हैं।
मोक्षशास्त्र-टीका	तैयार हो रहा है।
भेदविज्ञान सार	[पूज्य श्री कानजीस्वामी के धार्मिक महोत्सव के दिनों में समयसार पर प्रवचन, छप रहा है।
जैन बालपोथी	०-४-०
मुक्ति का मार्ग (सत्तास्वरूप पर प्रवचन)	०-१०-०
मूल में भूल (उपादान-निमित्त संवाद)	०-१२-०
वस्तुविज्ञान सार (जैन गीता)	जिज्ञासुओं को भेंट
नन्दीश्वर-द्वीप पूजन	०-१२-०
दशलक्षण-धर्म प्रवचन	०-१२-०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें (आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट)	१-२-०
प्रवचनसार (अक्षरशः हिन्दी अनुवाद)	१-२-०
आत्मधर्म की फाइलें	३-१२-०

[इस शास्त्रमाला की ५१ पुस्तकें प्रसिद्ध हो चुकी हैं। उपरोक्त पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें गुजराती भाषा में हैं, उनका सूची पत्र मँगा सकते हैं।]

—: मिलने का पता :—

श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचन्द रवाणी, शिष्टसाहित्य मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचन्द रवाणी, अनेकान्त मुद्राणालय मोटा आंकड़िया (अमरेली)